मूल्य	:	७५ नए पैसे
द्वितीय संस्करण	:	फ़रवरी, १९५८
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

१

आदमी पहले उतना ही वनैला था जितना भेड़िया। एक दूसरे पर हमला करना, छीन-झपट-मारकर खाना, गुफा में सो रहना—यही उसका काम था।

धीरे-धीरे उसे अपनी हालत से घिन हुई और उसने अपनी हालत सम्हाली। सबसे पहले उसने शान्ति और एकता के सपने देखे, साथ मिलकर रहने के फ़ायदे उसने जाने, और ज़मीन जोत-सँवारकर अन्न उपजाया।

साथ मिलकर रहने से आदमी के गिरोह में एक नई तहज़ीब आई। उसने एक दूसरे की ओर प्रेम और मुहब्बत से देखा। उसने जाना कि क्या करने से उसका और दूसरे आदमी का भला होगा, क्या करने से उसको हानि न पहुँचेगी, क्या करके सब एक दूसरे से खुश रहेंगे, और इन सब विचारों ने एक नये व्यवहार, एक नये आचार को जन्म दिया। यही सभ्यता थी। उठना-बैठना मिलकर होता था; वही मानो सभा थी और उसमें बरतने की एक समझ होती थी जो 'सभ्यता' कहलाई, क्योंकि वह सभा में बैठ सकने की समझ थी।

और सभा में बैठ सकने की समझ के साथ, सभ्यता

के दायरे में, बनैले जन्तुओं की रीति से दूर हटकर, ज़िन्दगी में, रहने-सहने में खूबसूरती पैदा करने का नाम 'संस्कृति' पड़ा। संस्कृति संस्कार करती है, कच्ची धातु को साफ़ कर चमका देती है। सोना, ताँबा, लोहा जब खान से निकाले जाते हैं, तो वे मिट्टी मिले कुधातु होते हैं, कच्चे। उन्हें तब आँच में तपाकर साफ़ किया जाता है। इसी प्रकार कीमती मणियाँ भी ज़मीन से निकालकर काट-छीलकर चमकाई जाती हैं। वही सफ़ाई संस्कार कहलाती है।

बनैला आदमी भी ज़मीन से निकली कच्ची धातु की तरह पहले रूखा और घिनौना था। उसका भी धीरे-धीरे संस्कार हुआ। वह सभ्य बना। और इसी सभ्यता के बीच अपने गुणों की चमक जब उसने जानी-पहचानी तब उसे अपने जीवन को सँवारने, सुघड़ बनाने की इच्छा हुई और वह उसे चमकाकर संस्कृत हो गया, मणि और सोने की तरह। पर उसके इस प्रकार संस्कृत होने में, शिष्ट होने में, उसे अनेक बलिदान देने पड़े; सोने की तरह आँच में तपना पड़ा, मणि की तरह छिलना-कटना पड़ा। तब कहीं वह अपने भाईचारे को, सुन्दर विचारों को, कला और साहित्य को बना सका।

जब आदमी कुछ सुन्दर देखता है, चाहे वह सूरज डूबते समय की आसमान की लाली हो, चाहे खिलते फूल का रंग

हो, वह उसे दूसरों को भी दिखाना चाहता है, दिखाता है। जब आदमी कुछ सुन्दर सुनता है और उससे उसे शान्ति मिलती है, तब वह उसे दूसरों को भी सुनाना चाहता है, सुनाता है। जब आदमी किसीकी कविता पढ़ता है, साहित्य पढ़ता है, तब चाहता है कि दूसरे भी उसका स्वाद लें। गरज कि आदमी नहीं चाहता कि उसका सुख उसी तक रहे, बल्कि वह सबके साथ उसे भोगना चाहता है। चाहता है कि जैसे वह सुन्दर चीजों को देखकर खुश होता है, सुन्दर भाव सुनकर प्रसन्न होता है, सुन्दर साहित्य पढ़कर अघा जाता है, वैसे ही उसके प्यारे भी उस सुख को चेतें, उसीकी तरह देख-जानकर सुघराई से तृप्त हों।

पहले यह सुख देने की भावना अपने पास के जनों, प्यारों तक ही सीमित रहती है। फिर जैसे-जैसे इंसानियत का दायरा बढ़ता है, जैसे-जैसे आदमी की उदारता बढ़ती है, जैसे-जैसे स्वार्थ की मात्रा कम होती है, वैसे ही वैसे दूर के इन्सान को भी आदमी अपने सुख और सौन्दर्य का हिस्सेदार बनाने लगता है। अपनी सुनी बातों को, अपने चेते सुख को, जाने भेद को, उस तक पहुँचाने लगता है। धर्म, प्रेम, कला, साहित्य के प्रचार अधिकतर इसी विचार से हुए हैं।

ऋषियों ने देखा है; मुनियों ने सुना है, महात्माओं

ने सहा है, बुद्धों ने कहा है—सो सब दूसरों के लिये। बुद्ध ने कहा कि जब तक संसार में एक जीव भी जनम-मरन के दुःख भोगता रहेगा तब तक मैं निर्वाण या मुक्ति का सुख नहीं लूँगा। ईसा ने संसार के सारे मनुष्यों का पाप अपने सिर ले लिया। यही महायान का मार्ग है; बड़े जहाज़ का, जिसपर सब एक साथ चढ़कर भवसागर पार करते हैं। अकेले सुख का या मुक्ति का मार्ग तो हीनयान है। छोटी नाव, जिसपर क्षुद्र जीव ही केवल आप चढ़ पाता है। इसीसे अपने सुख में, अपनी हँसी और शान्ति में, दूसरों को हिस्सा देना ही अच्छे धर्मों के प्रचार का आधार रहा है।

वही आधार संस्कृति के प्रचार का रहा है। भारत ने अपनी संस्कृति का, अपने गुने ज्ञान का, अपने देखे सौन्दर्य का, अपने भोगे अनमोल शान्ति-सुख का, अपने जाने सन्तोष का इसी विचार से संसार में प्रचार किया। अत्यन्त पुराने काल से वह अपनी सच्चाई की खोज दुनिया के दूर-दूर के देशों तक पहुँचाता रहा, और इसके पहुँचाने में उसके साधुओं ने अपना-पराया कुछ न माना, किसी बलिदान को असंभव न जाना, किसी कठिनाई को विघ्न न समझा।

और इस प्रचार में अपने पाये सुख को दूसरों तक पहुँचाने में उसने आदमी-आदमी में भेद न किया। सूरज

को धूप और चाँद की चांदनी क्या अपने-पराये का अन्तर करती है ? बहती हवा, बहती नदियाँ जिन्दगी की आधार हैं, पर क्या उन्होंने कभी अपना दान देने में जीव-जीव में भेद किया है ? फिर इन्सान वह भेद क्यों करे ? संस्कृत इन्सान वह भेद नहीं मानता। इसीसे भारतीय साधुओं ने अपने ज्ञान के विस्तार में भेद या क्रोध और बदले को पास न फटकने दिया। सिकन्दर इस देश में आग और तलवार लेकर आया था, मौत का दूत बनकर। दो पीढ़ी बाद अशोक ने उसके देश में दवा बँटवा दी, औषधियों के पौधे लगवा दिये, उसके दूत वहाँ जीने के साधन लेकर पहुँचे। चीन के हूणों ने भारत में सुनहरा युग बनाने वाले गुप्तों का साम्राज्य तोड़ डाला। पर जब अभी वे यहाँ उसे तोड़ ही रहे थे, ठीक तभी भारत के बौद्ध भिक्षु राह की मुसीबतें झेल, बीहड़ जंगल, सूखे रेगिस्तान और ऊँचे पहाड़ लाँघ उनके देश चीन जा पहुँचे थे और खास उन्हीं-के घर तानहुआंग में पहाड़ की छाती चीर मन्दिर बना रहे थे, उन मन्दिरों की दीवारों पर शान्ति और प्रेम के चित्र लिख रहे थे, अजन्ता उतार रहे थे, बुद्ध के भाईचारे के सन्देश वहाँ की हूण और चीनी जनता को सुना रहे थे !

यही भारतीय संस्कृति के विस्तार की कहानी है, जिसकी हदें नहीं खींची जा सकीं। संस्कृति के विस्तार की हदें खींची भी नहीं जा सकतीं। उजाले की किरणों की तरह

अंधेरे को चीरती और कोने-कोने को रोशन करती संस्कृति चली जाती है। उसकी लहर जब उठती है तब धीरे-धीरे फैलती दूर तक चली जाती है, किनारों तक; और अपने परस से उन्हें नरम कर देती है।

बुद्ध के विचार, उनके सन्देश, उनके आचार मध्य एशिया की खूँख्वार बर्बर जातियों के पास पहुँचे और उन्हें बे हथियार कर दिया। उन्हींके ज़रिये वे जूदिया और इस्रायल पहुँचे और ईसा के शब्दों को, ईसाई धर्म को उन्होंने ऐसे साँचे में ढाला जो वहाँ के निर्भीक, पर क्रोधी महात्माओं से बिलकुल भिन्न था और जिसका असर मिस्र और रोम तक पहुँचा।

इस भारतीय संस्कृति के विस्तार की कहानी अनेक प्रकार से कहनी होगी, क्योंकि वह विस्तार हुआ ही अनेक प्रकार से है। पर उसके प्रकार चाहे जितने रहे हों, उनका आधार समान रहा है। एक ही सत्य और शान्ति, प्रेम और विनय, जन-हित और अपने सुख का दूसरों को हक़दार बनाना उसका आदर्श रहा है। उस आदर्श की चेतना में जब-तब कमी-बेशी ज़रूर रही है, पर उसका बुनियादी आधार निश्चय यही रहा है।

२

भारत का सम्बन्ध दुनिया के देशों से बहुत पुराना है। इतना पुराना कि उसका अटकल लगाना भी आसान नहीं। बुद्ध का सन्देश लेकर देश-देश फिरने वाले महात्माओं से बहुत पहले हिन्दुस्तानी मल्लाहों ने समुद्र लाँघ लिये थे। कुछ देखने के लिये, कुछ कमाने के लिये, कुछ लहरों के मुकाबले के लिये पानी की फैली छाती पर वे उतर जाते थे और दूर तक अपनी कमज़ोर, क्षुद्र डोंगियों पर तैरते चले जाते थे। वह कहानी बड़े साहस की है और उसे 'बुद्ध' के सन्देश का प्रचार करने वालों से पहले कहनी होगी। देश की पुरानी पोथियों में, जातकों में, पुराणों में, वह कहानी कही गई है। जी को डरा देने वाली कहानी, पर ऐसी भी कि सुनकर नसों में लहू दौड़ जाय।

सोचिये ज़रा कि डोंगियों की जो बात हमने ऊपर कही है, वे डोंगियाँ भी न थीं, केवल खोखले किये हुए ताड़ के तने, जिनमें अंगूठे का दब जाना भी समुद्र में खतरा उत्पन्न कर दे। और ताड़ के खोखले तने क्या, उससे भी खतरनाक तो वह एक में एक बंधे हुए लकड़ी के तख़्ते, पोपले बाँस के लट्ठे और उनके सहारे समुद्र की लहरों पर चढ़ना-

उतरना और इस तरह मीलों चले जाना कुछ आसान न था। पर समुद्र की लहरों और खतरे में तूफ़ान से लड़ने वालों को आसानी की फ़िक्र कहाँ रही है ?

सो, बल्लों के चबूतरे बनाये या खोखले तनों की डोंगियाँ लिये अपने देश के माँझी सैकड़ों मील लहरों में उतरते-चढ़ते चले जाते थे। धीरे-धीरे उन्होंने सही नावें बनाईं; छोटी, मँझोली और बड़ी नावें और उनका काम पहले से बहुत आसान हो गया। दूसरे देशों के मल्लाह और व्यापारी भी धीरे-धीरे इधर की ओर चले और दोनों ने एक दूसरे के देश को जाना, समझा! जाना कि कौन-सी चीज़ दूसरों के यहाँ होती है, कौन-सी अपने यहाँ, कौन-सी चीज़ें बदले में ली-दी जा सकती हैं। धीरे-धीरे व्यापार बढ़ चला। सैकड़ों-सैकड़ों चीज़ें दूर देश से लाकर हमारे मल्लाह अपने किनारों पर ढेर लगाने लगे, सैकड़ों-हज़ारों चीज़ें यहाँ से ले जाकर दूर देशों में बेचने लगे।

भारत में चीज़ों की कमी क्या थी—मलमल, मोती, चन्दन, गरम मसाले और ऐसी ही अनेकानेक चीज़ें इस देश में पैदा होती थीं, जिन्हें भर-भर वे समुद्र लाँघ जाते, और समुद्र पार के रहने वालों को चकित कर अनन्त धन लेकर लौटते। देश की दक्खिन की नदियाँ अपने मुहानों पर मोती उगलती थीं, मलमल उत्तर भारत में बनती थी, और मलय के पहाड़ों में चन्दन के जंगलों में बहती हुई

हवा चन्दन को छूकर गमक उठती थी। उसी दिशा में मलय पर्वत के जंगलों में, इलायची, लौंग, दालचीनी, काली मिर्च आदि अपने आप करोड़ों मन होती थीं। और जब उस गरम मसाले का स्वाद दुनिया ने जाना तब उसे पाने के लिए वह सब कुछ देने को तैयार हो गई। कोई दाम उसके लिये महँगा न था। रोम अपने देश से कई हज़ार मील पच्छिम में है, उस दूसरे महाद्वीप में जिसे यूरोप कहते हैं। एक दिन था जब क़रीब-क़रीब सारे यूरोप पर, आधे एशिया पर, उस रोम का दबदबा था; उस नगर की सरकार राज करती थी। उसी रोम नगर को एक दिन हिन्दुस्तान के मल्लाहों ने जीत लिया।

हथियार से नहीं, मौत के ज़रियों से नहीं, क्योंकि वह ज़रिया अपना नहीं रहा है; बल्कि शान्ति के उन ज़रियों से जिनसे दूर का अनजाना आदमी भी पास का दोस्त बन जाता है। रोम की नारियाँ सुन्दर थीं, पर सुन्दरता भी मणि की ही तरह, खान से निकली हुई नई धातु की तरह होती है, जिसका संस्कार कर, जिसको चिकना-चमकाकर हम संस्कृत कर देते हैं। सो, रोम की ललनाओं को भी अपने सुन्दर शरीर की कान्ति को दमकाने के लिये हिन्दुस्तान के मोतियों की जरूरत थी, उसको मलमल की आवश्यकता थी। और हिन्दुस्तानी मल्लाहों ने, भारत के सौदागरों ने मकड़ी के जाले-सी महीन और झीनी मलमल

उन्हें सुलभ कर दी, सफ़ेद से सफ़ेद आबदार मोती उन तक पहुँचा दिये। महीन मलमल से उन्होंने अपना तन आकर्षक बनाया, जिससे साधु का मन भी डोल जाय, ललचा उठे। मोतियों से उन्होंने अपनी माँग सजाई, कान सजाये, गर्दन और छाती सजाई। रोम के छैलों ने भी उस मलमल का, उन आबदार मोतियों का भरपूर उपयोग किया। मोती और मलमल कीमत से सौ गुने दामों, मुँहमाँगे मूल्य पर बिकने लगे। रोम के इतिहासकार प्लिनी ने बार-बार उसके खिलाफ़ आवाज़ उठाई, पर रोम की नारियों और उनके प्यारे रसियों ने हिन्दुस्तान का व्यापार बचा लिया, उन्होंने मलमल-मोती पहनना न छोड़ा, न छोड़ा।

गरम मसाले का स्वाद जो उधर के लोगों को लगा तो वे अपना सर्वस्व उसकी खातिर बेचने को तैयार हो गये। यूरोप के पूरब से पच्छिम तक के देशों में गरम मसाले पहुँचते थे और रसोई से उनकी सिझती सुगन्ध जो उठती तो क्या सभ्य, क्या बर्बर, दोनों को अपनी सुवास से बेकाबू कर देती। कोई दाम न था जो उसके बदले दिया जा सकता हो। लोग मनों गमकते मसाले चिता पर जलते सगे-सम्बन्धियों पर डालते और जिनको मरने पर जलते समय अगर और धूप मिलती उनका जीवन सफल माना जाता। दो-दो सौ बोरे धूप और अगर के चिताओं में झोंक दिये जाते। यों भारत का व्यापार बढ़ने लगा। एक बार तो

रोम का मूल्य ही हिन्दुस्तानी मसाले से चुकाया गया। सभ्य रोमनों के उत्तर की ओर एक बनैली जाति रहती थी, जिसका नाम था गोथ। लूट और रक्त के नाम पर वह जाति दौड़ पड़ा करती थी। सभ्य जातियाँ ही उसका आहार थीं। रोम के-से धनी नगर पर उसकी ललचाई नज़र बराबर फिरा करती और जब-जब रोम की सरकार कमज़ोर पड़ती तब-तब 'गोथ' हमला करके रोम को बेआबरू कर देते। जब हमारे देश में विक्रमाजीत का-सा लायक राजा हुआ था, उसी ज़माने की बात है, ठीक तभी की। पच्छिमी गोथों का सरदार अलारिक अपने बनैले साथियों के साथ रोम पर टूट पड़ा। रोम बेबस हो गया। जैसे अपने ही रंग में रहने वाला रसिया स्वस्थ अहीर की चोट से तिलमिला जाता है, वैसे ही रोम के शौक़ीन लड़के बनैले गोथों की चोट से ज़मीन सूँघने लगे। कुछ अजब न था कि अलारिक सारे रोम को ज़मीन में मिला दे और उसके श्रीमानों को बेआबरू कर दे कि तभी कुछ लोग उसके पास पहुँचे। उससे पूछा—रोम को किन दामों छुटकारा मिल सकता है? अलारिक ने कहा—रोम की क़ीमत होगी—३५ मन काली मिर्च! ३५ मन काली मिर्च रोम के बन्दर में खड़े हिन्दुस्तानी जहाज़ों ने पहुँचा दी और इस तरह रोम काली मिर्च के मोल बिका, हिन्दुस्तान ने उसकी लाज रख ली। यह हिन्दुस्तानी व्यापार का जादू था जिसकी

पकड़ के भीतर दूर-दूर के देश थे, जिसकी हथेली में देश-देश की रसोई थी, देश-देश का पहनावा, देश-देश का सिंगार था।

समुद्र पर चलकर दूर देश पहुँचने की कहानी, जैसा पहले लिखा जा चुका है, बहुत पुरानी है। कहते हैं कि ईसा से ३००० साल पहले, आज से कोई ५००० बरस पहले, जब दजला और फरात नदियों की निचली धाराओं के बीच बाबुल के देश में ऊर के नगर पर ऊर-बगस राज करता था, तब उस महान् नगरी की क़ब्रों के लिये सागौन की लकड़ी इसी देश से गई थी। शायद मिस्र की क़ब्रों में हजारों बरस तक बिना गले पड़े रहने वाले शरीर भी इसी देश की खादी में लपेटे गये थे। 'इन्जील' (बाइबिल) की पुरानी पोथी में भारत के साथ तिजारत के सम्बन्ध में अनेक बार चर्चा हुई है। वह तिजारत इस्रायल आदि के नगरों के लिये इतने काम की होती थी कि उस पोथी में लिखा है, वहाँ के बुद्धिमान और प्रसिद्ध राजा सुलेमान ने हिन्दुस्तान से व्यापार करने के लिये उसके पश्चिमी तट तक पहुँचने वाले जहाजों का एक बेड़ा ही तैयार कर लिया। पर सच तो यह है कि हिन्दुस्तानी माँझियों का उस समुद्र पर और दूर, उसके पीछे तक ऐसा जाल फैला हुआ था कि सुलेमान के बेड़े की जरूरी चीजें वे आधी राह

बढ़कर वहीं पहुँचा दिया करते थे; सुलेमान के मल्लाहों को इधर आने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी।

ईसा से क़रीब सवा तीन सौ वर्ष पहले, यानी आज से कोई सवा दो हज़ार साल से भी पहले, मौर्यों के राजकाल में, देश में लड़ाकू जहाज़ों का एक बड़ा मज़बूत बेड़ा भी बनकर तैयार हो गया था। सम्राट् अशोक के दादा चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने इस बेड़े का आँखोंदेखा ब्यौरा लिखा है। चन्द्रगुप्त का मन्त्री तब चाणक्य था। चाणक्य, जो अपनी चाही हुई चीज़ की प्राप्ति के लिए किसी तरीके को बेजा नहीं समझता था। सारे देश को उसने अपने राजा के लिये जीतकर रख दिया, और क़रीब सारा हिन्दुस्तान एक छत्र के नीचे खड़ा हुआ। पूरब से पच्छिम सारा देश, 'एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक, उसके अधिकार में आ गया था, फिर वह अपने समुद्र को गाँव की तलैया की तरह क्यों न बना डाले? इसलिये उसने तीर की रखवाली करने वाले और व्यापार में धारासार धन बरसाने वाले जहाज़ी बेड़े खड़े कर दिये जो सदा तीर की चौकसी और माल की रक्षा करते'।

पर अशोक के विचार दूसरे थे, अपने दादा और उसके मन्त्री चाणक्य के विचारों से बिल्कुल भिन्न। उसने लड़ाई बन्द कर दी। और उसकी जगह धर्म की आवाज़ से आस-

मान गुँजा दिया। भेरी-घोष की जगह धर्म-घोष दसों दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा। उड़ीसा जीतने के लिये जब उसे लाखों आदमी मारने पड़े, डेढ़ लाख कैद करने पड़े और इनसे कई गुना आदमी, बच्चे और नारियां लड़ाई के बीच बरबाद कर देनी पड़ीं तब उसने शपथ खायी की अब विजय के लिये वह कभी तलवार न उठायेगा, और उसकी तलवार तब जो म्यान में घुसी तो फिर कभी न निकली। युद्ध का जवाब उसने शान्ति से दिया, क्रोध का प्रेम से, हिंसा का क्षमा से। वही नीति इस देश में आज तक बरती जाती रही है। सही है कि समय-समय पर ऐसे भी राजा इस मुल्क में हुए जिन्होंने ताक़त और तलवार से दूसरों पर अधिकार करना चाहा, पर ऐसे ऋषि-मुनियों की या राजाओं की भी कमी नहीं रही जिन्होंने युद्ध को बराबर बुरा कहा, शान्ति को बराबर अच्छा। विष्णु पुराण में विक्रमाजीत के पिता समुद्रगुप्त की रक्त से लाल जीतों का हाल लिख चुकने पर व्यास कहता है कि 'जिन राजाओं ने कहा कि भारत मेरा है, वे मिट गये। राम के होने में भी आज हमें सन्देह होने लगा है। फिर समुद्रगुप्त का यश जो लहू से गीली पृथ्वी पर टिका है कैसे अमर हो सकेगा? साम्राज्य को धिक्कार! ऐश्वर्य को धिक्कार!' इस तरह विष्णु पुराण का लेखक साम्राज्य और ऐश्वर्य को इसलिये धिक्कारता है कि उनकी नींव खूनी लड़ाइयों पर पड़ी है।

अशोक ने वह सारी परम्परा ही बदल दी। जहाँ राजा लोग दूसरे राजाओं के पास लड़ाई छेड़ने के लिये दूत भेजा करते थे, इस देश के उस महान् नृपति ने वहाँ शान्ति के दूत भेजे जो रोग की दवाएँ लेकर पहुँचे, बुद्ध के सन्देश लेकर। पर उनकी बात फिर कहेंगे।

बात तो कह रहे थे समुद्री बेड़ों की, हिन्दुस्तानी तिजारत की, उन साहसी सौदागरों की जो बाबुल और मिस्र, रोम और पच्छिमी समुद्र एक किये हुए थे। उन्हीं दिनों, जिस सदी में ईसा मसीह पैदा हुए थे, क़रीब तभी एक भूला हुआ हिन्दुस्तानी जहाज़ तूफ़ान में भटककर फ्राँस, जर्मनी के किनारे जा पहुँचा था।

मतलब यह कि अशोक का परहेज़ लड़ाई से था, व्यापार से नहीं। और उसके समय और आगे-पीछे सदा वह व्यापार चलता रहा था, और भारतीय माँझियों के पड़ाव सर्वत्र टापुओं पर पड़ते रहे थे। बाबुल में उनका एक मुहल्ला था, और उत्तर असुर देश की पहाड़ियों में उनकी बस्तियाँ बसी थीं। सूखे रेगिस्तान में उनके कारवाँ उसी निर्भीकता से चलते थे जिससे उनकी नावों के बेड़े दज़ला-फ़रात की राह हराइयों के बीच सीरिया और अरमनी देशों के तीर उतरते थे। मिश्र की सिकन्दरिया में पंडितों और सौदागरों का बसा एक बड़ा मुहल्ला था, और रोम के नगर में भी उनकी आबादी कुछ कम न थी।

पूरबी देशों से भी भारत का परिचय कुछ नया न था, यद्यपि वह इतना पुराना भी न था, जितना कि पच्छिम के देशों से ! ईसा के जन्म के बहुत पहले से ही, यानी आज से २००० बरसों से भी पहले से भारत के माँझी पूरबी संसार का घूंघट खोल चुके थे। पूरब का देश सदा से जादू का देश माना जाता रहा है। भला यह मुमकिन कहाँ था कि लोग जादू के देश देखने से रह जाते ? जब आज से केवल १५०० साल पहले का महाकवि कालिदास पूरब के द्वीपों से बहाकर लाए लौंग के फूलों का उड़ीसा के समुद्री तीर पर इतने चाव से वर्णन करता है, तब भला उससे भी हज़ार साल पहले होने वाले माँझियों के मन में जादू के वे पूरबी देश देखने की कितनी लालसा रही होगी ?

सो, बहुत काल पहले से ही इस देश के माँझियों ने पूरब के द्वीपों और हिन्दुस्तान के बीच फैले समुद्र को वामन के चरण से नाप लिया था। लंका, बर्मा, स्याम, पेगू, कम्बुज, मलय, जावा, सुमात्रा, बाली, चीन, कोरिया और जापान उनके लिये तब कुछ दूर नहीं रहे थे। अपना माल ले जाकर वह चीनी जहाज़ों में उतार देते और जब-तब स्वयं जापान के तट तक जा पहुँचते।

जब-तब जीत की लालसा भी हिन्दू राजाओं में प्रबल हो उठती और वे अपने उपनिवेश बनाने के भी पूरब में प्रयत्न करते। दो हज़ार बरस पहले से ही समय-समय पर

इस प्रकार के प्रयत्न होने लगे थे। और समय-समय से उनके लड़ाकू बेड़े उधर जा निकलते और टापुओं पर कब्ज़ा कर लेते। इस प्रकार के कितने ही हमले उन टापुओं में गुजरात और कलिंग (उड़ीसा) से चलकर, लंका और मद्रास से चलकर, पूरब जा पहुँचे थे और उन्होंने उन टापुओं पर अधिकार कर लिया था।

फिर भी वह अधिकार इतना राजनीतिक न था। वहाँ वालों को इन नये भारत के बसने वालों ने अपना धर्म दिया, अपनी संस्कृति दी, अपनी कला और साहित्य दिये और उन सबसे ऊपर अपनी बड़ी कठिनाई से सँवारी हुई शान्ति दी। उस शान्ति के प्रचार की कहानी बौद्ध धर्म के प्रचार की कहानी है, जो आगे कहेंगे।

३

भारत का सम्बन्ध तो सभी एशिया के देशों से पुराना है। शायद जितना पुराना उसका सम्बन्ध लंका के साथ रहा है उतना किसी और के साथ नहीं। पुरानी पोथियों में लिखा है कि जिस दिन बुद्ध ने निर्वाण लिया, या मरे, उसी दिन राजकुमार विजय जहाज़ों का अपना बेड़ा लिये लंका की भूमि पर उतरा। वह आज से कोई ढाई हज़ार बरस पुरानी बात है। धीरे-धीरे लंका में—हिन्दू राजाओं का राज्य हुआ और वहाँ भारत की सभ्यता और संस्कृति फैल गई। विजय का बेड़ा तूफ़ान में पड़कर भारत के पूरबी सागर-तीर से छिन्न-भिन्न होकर पच्छिमी सागर-तीर की ओर चला गया था। फिर अनेक मुसीबतें झेलने के बाद वह जैसे-तैसे लंका पहुँचा। उसकी उस बहादुरी की कथा अपने देश और दूसरे देशों की दीवारों पर पत्थर की मूरतों में खुदी है, चित्रों में लिखी है।

परन्तु बुद्ध के दया, धर्म और शान्ति के सन्देश ले जाने वाले बौद्ध साधु लंका-विजय से करीब ढाई सौ साल बाद पहुँचे। आज के पटने को तब पाटलिपुत्र कहते थे। वही पाटलिपुत्र उस मगध की राजधानी था, जिसका राजा

अशोक था और जहाँ बुद्ध ने कभी अपने उपदेश दिये थे। उस पाटलिपुत्र में राजा अशोक ने बौद्ध पंडितों की जो सभा की उसमें यह तय पाया कि देश के बड़े-बड़े पंडित बुद्ध के सन्देश का प्रचार करने के लिये दूसरे देशों में भेजे जायँ। अशोक ने तब अनेक पंडित अनेक देशों को भेजे। इन्हींमें उसका बेटा महेन्द्र भी था जो अनेक साधुओं को लेकर लंका पहुँचा और जिसने जीवन भर महात्मा बुद्ध के सन्देश समझा-समझाकर वहाँ के लोगों से कहे।

कुछ काल बाद महेन्द्र की बहन और अशोक की लड़की संघमित्रा भी लंका पहुँची और बौद्ध धर्म का प्रचार वहाँ दिन दूना, रात चौगुना होने लगा। हजारों की तादाद में वहाँ के रहने वालों ने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ली। बौद्ध होने के लिये इन तीनों की शरण लेनी जरूरी थी। बौद्ध साधु या भिक्षु बनते समय लोगों को गुरु या आचार्य के बताये तरीकों से जोर से कहना पड़ता था—

बुद्धं सरणं गच्छामि !
धम्मं सरणं गच्छामि !
संघं सरणं गच्छामि !

यानी बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ !

संघमित्रा के लंका जाने का एक उद्देश्य और भी था। वह यह कि अब संघ या बौद्धों की सभा में औरतें भी

शरीक होने लगी थीं और उनको भिक्षुणी बनाने का काम उसे सौंपा गया। लंका जाते समय वह गया के उस पीपल के पेड़ की एक टहनी भी काटकर साथ ले गई थी, जिसके नीचे भगवान् बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हो गया था। वह महान् बोधि-वृक्ष के रूप में आज भी लंका में खड़ी है।

लंका में इस ज्ञान-वृक्ष की टहनी लगाने का मतलब था इस देश का सारा ज्ञान वहाँ पहुँचा देना। और इसमें सन्देह नहीं कि वह सारा ज्ञान उस टापू में पहुँचा दिया गया। भारत से अनेक ग्रंथ वहाँ ले जाये गये और उनकी रक्षा की गई। अनेक ग्रंथ जो भारत में लुप्त हो गये थे, पीछे वहीं मिले और उनका अनुवाद लंका की सिंहली भाषा से संस्कृत और पाली में हुआ। वहाँ की मूर्तियों और चित्रों की कला पर हमारे देश की कला का बड़ा असर पड़ा। बुद्ध के जीवन की अनेक कहानियाँ वहाँ पत्थर में खोदी गईं और दीवारों पर चित्रों के रूप में लिखी गईं। लंका के सिगिरिया की दीवारों पर हमारे अजन्ता की देखा-देखी चित्र बने। उनकी भी गणना संसार के बड़े सुन्दर चित्रों में की जाती है। तब से आज तक भारत और लंका का सद्भाव बना हुआ है। वहाँ के अनेक राजाओं ने इस देश के बोध गया आदि में लंका के भिक्षुओं के लिये विहार बनवाये। विहार उस इमारत को कहते थे, जिसमें बौद्ध साधु या भिक्षु रहते थे।

यह सही है कि अनेक बार दक्खिन भारत के मद्रासी राजाओं ने लंका पर अधिकार कर लिया था; एकाध बार लंका के राजा भी भारत की भूमि पर अपनी सेना ले उतर आये, पर दोनों देशों की जनता में कभी वैर नहीं हुआ और दोनों सदा एक दूसरे का आदर करते रहे, उनके महात्माओं को पूजते रहे। दोनों ने साथ मिलकर अनेक बार पूरबी समुद्र के टापुओं में भारत की संस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया।

४

पृथ्वी के जिस महाखंड में हमारा देवताओं के रहने योग्य यह भारत बसा है उसको एशिया का महाद्वीप कहते हैं। उसका फैलाव बहुत बड़ा है; भारत तो उसका एक टुकड़ा भर है। उस एशिया का विस्तार भारत के उत्तर में पूरब से पच्छिम तक, समुद्र से समुद्र तक, यानी चीन के पूरब के समुद्र से लेकर इसरायल के पच्छिम भूमध्य सागर तक है। उसी लम्बे-चौड़े महादेश पर, सागर से सागर तक, कभी भारत की संस्कृति, भारत का धर्म और भारत का विश्वास फैला था। वहाँ सदा से बड़ी ख़ूँख़ार जातियाँ बसती आई हैं जिन्होंने आदमी के लहू से होली खेली है, और जिनके भयानक कारनामों को देखकर भेड़िये और शेर लजा गये हैं। उन जातियों के रहन-सहन भयानक थे, उनके विश्वास भयानक थे, उनका धर्म भयानक था। उनके सामने आदमी की जान का कोई मूल्य नहीं था। पर एक दिन ऐसा आया, जब उन ख़ूँख़ार जातियों के भीतर दया की बाढ़ आ गई, भाईचारे के प्यार से उन्होंने एक दूसरे को भेंटा और समुद्र से समुद्र तक प्रेम और दया का दरिया लहराने लगा। यह किसने किया ?

यह बौद्ध धर्म के उन महात्माओं का ही जो खाली हाथ अपनी दुर्बल देह लिये वहाँ पहुँचे थे, जिनके पास क्रोध का जवाब प्यार था, हिंसा का उत्तर दया थी, प्रभाव था। अज्ञानी, बनैले आदमियों की छुरी के सामने उन्होंने अपनी छाती खोल दी, पर ऐसे जादुई आदमी के सामने छुरी चल न सकी और धीरे-धीरे उस सारे भूखण्ड पर दया और प्रेम का सागर उमड़ आया। अशोक के भेजे साधु दवा के पौधे लिये एशिया के पच्छिमी भाग से पूरबी यूरोप और अफ्रीका से मिस्र तक जा पहुँचे और उन्होंने बुद्ध के प्रेम और शान्ति के सन्देश वहाँ वालों को सुनाये। कुछ ही सदियों बाद जब महात्मा ईसा ने प्यार और दया से अपने चारों ओर रहने वालों को भेंटा तब उनके स्वर में बुद्ध की आवाज़ थी।

वैसे तो सारे एशिया पर भारत की कला, साहित्य और धर्म का बोलबाला हुआ, पर उस दिशा में खुत्तन, चीन, कोरिया, जापान, मंगोलिया, नैपाल और तिब्बत पर जो उनका गहरा प्रभाव पड़ा वह महत्वपूर्ण था। गन्धार (पाकिस्तान का उत्तर-पच्छिमी हिस्सा) और अफ़गानिस्तान पर तो अशोक का राज्य हो ही रहा था और इसलिये जो हजारों-हजारों बुद्ध की मूरतें और पूजा के स्तूप और मन्दिर वहाँ मिले हैं उनका होना तो वहाँ निश्चित ही था, पर उन-से अलग, दूर उत्तर और पूरब में जो अपने देश की कला

के नमूने मिले हैं उनकी बहुतायत को देखकर आदमी अचरज में पड़ जाता है।

अशोक की ही भांति बौद्ध धर्म का एक बड़ा प्रचारक राजा कनिष्क था जो पहले विदेशी था पर बाद में बौद्ध हो गया था। बौद्ध बुद्ध के चेले या उनके धर्म के मानने वाले को कहते हैं। कनिष्क अफ़गानिस्तान, कश्मीर और पंजाब तीनों का स्वामी था। कश्मीर की राह ही अधिकतर लोग पूरब चीन की ओर जाते थे और वहाँ उस राजा ने अशोक को ही तरह बौद्ध धर्म के पंडितों की एक सभा भी कराई थी। खुत्तन कश्मीर से चीन जाने वाली राह पर उत्तर-पूरब में बसा था। कुछ काल बाद वह तुर्किस्तान का सबसे बड़ा भारतीय विचारों का केन्द्र बना। इधर जो वहाँ खुदाई हुई है उससे संस्कृत और पाली में यहीं के अक्षरों में लिखे हुए अनेक ग्रंथ मिले हैं। सैंकड़ों, हज़ारों मूरतें, दीवारों पर बनी तस्वीरें, रेशम और कपड़े पर कढ़े महात्माओं के चित्र मिले हैं, जिनसे भारत की संस्कृति के इस दिशा में घने प्रचार का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। वहाँ के अनेकानेक विहारों में, गुफाओं और मंदिरों में कभी हज़ारों भिक्षु रहते थे। इसी राह कभी चीन के फाहियान, हुयेनच्वांग और दूसरे बहुतेरे चीनी यात्री बुद्ध के इस पवित्र देश को देखने आये थे।

और उनसे भी बहुत पहले भारत के अनेक महात्मा

उसी राह चीन चले गये थे। पहाड़ों की बर्फ़ीली चोटियाँ, घने जंगल और बग़ैर पानी के सूखे रेगिस्तानों को लांघकर ज़मीन की राह चीन पहुँचना कितना कठिन था यह उन महात्माओं के चरित्रों से मालूम होता है, जिन्होंने उस यात्रा की मुसीबतें झेलीं। कितने उस राह जाते मर गये, कितने अकाल में बूढ़े हो गये, इसकी कोई गिनती नहीं, पर जो बचे उन्होंने वह किया जिसकी याद न केवल भारत का माथा ऊँचा करती है बल्कि आदमी की बरदाश्त और भाईचारे की उसकी लगन को प्रकट करती है। इस्लाम धर्म के मध्य एशिया में फैलने से पहले वहाँ सर्वत्र भारत के बौद्ध धर्म का राज्य था जिसे उन महात्माओं ने वहाँ पहुँचाया था जिन्हें दिन-दिन निराहार रहना पड़ा था और पानी न मिलने पर जिन्हें अपने टट्टुओं की नसें काटकर उनके रक्त से अपनी प्यास बुझानी पड़ी थी। वह हिंसा न थी क्योंकि उनके सामने जो कार्य था वह इतना महान् था कि उसके लिये ऐसा करना कुछ भी अधर्म न था। जहाँ हज़ारों लाखों की तादाद में लोग युद्धों में मार डाले जाते थे, उन तक बुद्ध का सन्देश पहुँचाना ज़रूरी था और उस सन्देश को वहाँ तक पहुँचाने के लिये जैसे-तैसे भी जीना ज़रूरी था। बुद्ध ने कभी कहा था—"भिक्षुओ, तुम देश-देश जाओ, बहुतों के हित के लिये जाओ, दया के लिये जाओ, देवताओं और आदमियों की भलाई के लिये भ्रमण करो। तुम उस

विचार का प्रचार करो जो शुरू में उत्तम है, बीच में उत्तम है और अन्त में उत्तम है। तुम पूरे जीवन का, पवित्र जीवन का, भरे जीवन का प्रचार करो।" और उसी संसार के हित के लिये बौद्ध महात्मा चल पड़े थे। उनका लोगों के प्रति इतना प्यार था, उनमें दुःख दूर करने की इतनी लालसा थी कि उन्होने अपना दुःख लोगों के सामने कुछ न गिना।

५

चीन का देश भारत के उत्तर और पूरब में समुद्र के किनारे दूर तक फैला हुआ है। आज वहां पचास करोड़ आदमी रहते हैं। आज से क़रीब दो हज़ार साल पहले भी कुछ कम आदमी न थे। और जैसा पहले बताया जा चुका है, चीन की राह सर करनी आसान न थी। सागर की राह तो तब भी कुछ आसान थी और बहुत पहले से भारत और चीन के बीच समुद्री राह से आना-जाना शुरू भी हो गया था, पर सूखी राह निश्चय बड़ी कठिन थी। इस राह जाने में लाभ बस इतना ही था कि चीन तक लगातार बौद्धों के विहार और मन्दिर क़ायम हो चुके थे और यात्री वहां पड़ाव डालते चीन तक जा पहुंचते थे।

चीन में तो भारतीय महात्माओं और बौद्ध साधुओं ने धर्म और संस्कृति के रूप में एक नया भारत ही बसा डाला। बौद्ध धर्म का जितना प्रभाव उस देश पर पड़ा उतना शायद और किसी देश पर नहीं पड़ा। एक बड़े मार्के की बात यह है कि और देशों की तरह, जहां हिन्दुस्तान के विचार फैले, चीन असभ्य न था। उसके अपने महात्मा थे, अपना धर्म था, अपना ज्ञान था, अपने विचार

थे, अपनी पोथियाँ थीं, अपना साहित्य था, अपनी कला थी, अपनी सभ्यता-संस्कृति थी। ऐसी दशा में मामूली तौर पर अपने सनातन विचारों को छोड़कर दूसरों के विदेशी विचार कोई तब तक नहीं ग्रहण करता जब तक कि उन विचारों में महानता न हो, जब तक कि उन विचारों के फैलाने वालों में तप और असाधारण आकर्षण न हो। इसमें तो सन्देह नहीं कि तप उन महात्माओं के जीवन की सबसे सहज प्रवृत्ति थी, वरना इतनी मुसीबतें झेलकर अपने प्यारे स्वजनों को छोड़कर, देश-दुनिया त्याग, दूर चीन जाने की उनकी इच्छा ही क्यों होती? इससे प्रगट है कि यहाँ से चीन जाने वाले महात्माओं ने अपने त्याग, तप और प्रेम से चीनियों का मन जीत लिया।

बौद्ध धर्म का फिर तो वहाँ खूब प्रचार हुआ और आज दो हजार बरसों से लाखों चीनी जो भगवान् बुद्ध की शरण में भारतीय आचार-विचार से रहते आये हैं वह उन्हीं महात्माओं के चरित्र का परिणाम है। यों तो भारत से वहाँ जाने वाले महात्माओं की संख्या सैकड़ों में है, पर उन सबमें महान् पंडित शायद कुमारजीव था जो देवता की भाँति वहाँ पूजा गया। कुमारजीव और दूसरे बौद्ध महात्माओं ने सैकड़ों संस्कृत और पाली के बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कितनी बार तो आदमी यह देखकर अचम्भे में आ जाता है कि इतनी कठिन चीनी

भाषा को दो-तीन साल के भीतर ही सर कर उन महात्माओं ने अधिकारी की भाँति उसमें अपनी भाषा से अनुवाद किये।

धीरे-धीरे उन ग्रन्थों की चीन में इतनी माँग बढ़ी, वहाँ की जनता ने इतने अनन्त कण्ठों से उन ग्रन्थों को माँगा कि हाथ से लिखने वालों के बस की यह बात न रही कि वे लाखों की तादाद में हाथ से लिखी किताबें जनता को दे सकें। तब चीन ने वह काम किया जो संसार के इतिहास में सबसे बड़ा जादू था—यानी कि उसने प्रेस ईजाद कर लिया। प्रेस में जो आज हर साल लाखों किताबें, अख़बार, पत्रिकाएँ छप रही हैं वह उसी प्रेस से सम्भव हो सका। पहले चीनियों ने लकड़ी की तख़्ती से किताबें छापनी शुरू कीं, फिर कोरिया और जापान वालों ने टाइप बनाये और किताबें दनादन छपने लगीं। इतनी किताबें ताड़ के पत्रों या भोजपत्र पर या कपड़े पर नहीं छप सकती थीं। उनके लिये काग़ज़ की आवश्यकता हुई, और चीनियों ने काग़ज़ भी बना डाला। पहली बार धर्म और साहित्य के प्रचार के लिए साइन्स या विज्ञान का इस्तेमाल किया गया। पहली बार धर्म और जनता के हित के लिये साहित्य की रचना की गई, जो प्रेस या मुद्रण की कला द्वारा जन-जन तक पहुँची। वही तरीक़ा यूरोप में भी सदियों बाद अपनाया गया, जब वहाँ के देशों में नये प्रोटेस्टेन्ट

धर्म का पुराने ईसाई धर्म के विरुद्ध प्रचार हुआ, जब जनता ने अपनी धर्म पुस्तक इञ्जील या बाइबिल को पादरियों की भाषा लातीनी से अलग अपनी बोली में जानना चाहा और जब यूरोप की हर बोली में उस धर्म पुस्तक को छापकर जन-जन में पहुँचाना आवश्यक हो गया। तभी संसार की प्राचीन पुस्तकों के महान् रक्षक अरबों ने चीन से प्रेस और काग़ज़ लेकर यूरोप तक पहुँचाया और वहाँ भी चीन में बुद्ध धर्म के प्रचार की भाँति नये ज्ञान के प्रकाश के लिए प्रेस में छपी किताबों का इस्तेमाल हुआ। भला यह जानना हमारे लिये कितने गौरव की बात है कि संसार में प्रकाश और ज्ञान, साहित्य और कला, सब कुछ के प्रचार के लिये, जो आज प्रेस और काग़ज़ कर रहे हैं, उनका मूलस्रोत भारत ही था; क्योंकि भारत के ही बौद्धग्रंथों के प्रचार के लिये चीनियों ने प्रेस और काग़ज़ दोनों को खोज निकाला था !

ऐसा नहीं कि चीन में भारतीय संस्कृति या धर्म का वह प्रचार सदा आसानी से हो हो सका हो। यह सही है कि चीन और भारत में कभी आपसी लड़ाई नहीं हुई, बल्कि दोनों देशों के राजाओं ने अनेक बार एक दूसरे के दरबार में अपने दूत और पंडित भेजे, पर वहाँ के अपने धर्मों ने विदेशी बौद्ध धर्म का कुछ कम विरोध न किया। अनेक बार तो उनके राजाओं और धर्म-गुरुओं ने बौद्धों को

तलवार के घाट उतार दिया, उनके पंडित मार डाले, उनके विहार नष्ट कर दिये, उनकी पोथियाँ जला दीं, पर त्याग और तप के धनी, बर्दाश्त और सेवा के व्रती, दया और प्रेम की मूर्ति बौद्ध भिक्षुओं ने कभी हार नहीं मानी। वे कोई दूसरों की जमीन छीनने नहीं गये थे, दूसरों का व्यापार हड़पने नहीं गये थे, दूसरों पर राज्य करने नहीं गये थे। वे तो अपनी पाई हुई शान्ति, अपना देखा हुआ सत्य, अपना गुना हुआ ज्ञान बांटने गये थे। उन्होंने अपने चीवर का आंचल फैलाकर कहा—"हमने तुम्हें ज्ञान दिया, अपने विचारों से पकड़ा हुआ सुख दिया, अपनी खोजी हुई शान्ति दी, अब तुम अपना सारा दुःख, सारी चिन्ता, सारा राग-द्वेष हमारी इस झोली में, हमारे इस फैलाये हुए आँचल में डाल दो।" भला ऐसा कहने वाले का वैरी कौन हो सकता है? और धीरे-धीरे चीनी जनता उन महात्माओं की भक्त हो गई। चीन में एक प्रान्त है, कानसू। वहाँ के रहने वाले हूण इतने भयानक थे कि उन्होंने एक समय सारे—एशिया और पूरबी यूरोप को कुचल डाला था; संसार के इतने बड़े रोम के साम्राज्य के घुटने तोड़ दिये थे, और उन्होंने ही विक्रमाजीत के महाराज्य के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। उन्हीं हूणों के घर कानसू में इन महात्माओं ने सबसे पहले अपनी शान्ति बांटी। हूणों ने भारत को लहू-लुहान कर दिया था। भारत के महात्माओं ने उनके देश में बुद्ध

के चरित गाये !

नतीजा यह हुआ कि उस कानसू के प्रान्त में सैकड़ों गुफाएँ पहाड़ों में खोद डाली गयीं। उन गुफाओं की दीवारें चिकनी कर उनपर एक से एक सुन्दर तप और त्याग के चित्र बनाये गये; उसी तरह जैसे कभी भारत की अजन्ता में बनाये गये थे। अपने देश में इस तरह की गुफाओं की संख्या दो सौ से अधिक नहीं है, पर चीन के केवल उस प्रान्त में, केवल तान-हुआंग में ४६९ गुफाएँ हैं, जिनमें बौद्ध धर्म हँसता है, और भारत का वैभव फलता है। आज चीन में लाखों बौद्ध हैं, हज़ारों बौद्ध मन्दिर हैं, सैकड़ों विहार हैं; जितने भारत में भी नहीं।

६

चीन से बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति कोरिया और जापान पहुँची। कोरिया एशिया का उत्तर-पूरबी देश है, चीन के भी उत्तर-पूरब में, जापान के पच्छिम में। अभी हाल, वहीं लड़ाई होती रही है, उसके अस्पताल और स्कूल तोड़े गये हैं, जहाँ कभी शान्ति के नारे बुलन्द होते थे। उस कोरिया में भारत से बौद्ध पंडित सीधे तो नहीं पहुँचे, पर उनके चीनी चेले बड़ी संख्या में वहाँ गये और उन्होंने बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। कोरिया की बोली में भी अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवाद हुआ। पहले कहा जा चुका है कि किस तरह चीनियों ने लकड़ी के ठप्पों से किताबों की छपाई शुरू की थी। उन ठप्पों के साथ-साथ धातु के टाइप का इस्तेमाल इन्हीं कोरियावासियों ने किया, जिसे पूर्ण किया जापानियों ने। एक लम्बे अरसे तक कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा और आज भी वहाँ भारतीय विचारों और विश्वासों की कमी नहीं है। हजारों पोथियाँ और चित्र तथा मूर्तियाँ इस बात की गवाह हैं।

जापान अनेक टापुओं का एशिया के पूरब-उत्तर में

द्वीप समूह है। चीन के ही आधार से वहाँ भी बौद्ध धर्म और भारत की संस्कृति का प्रचार हुआ। जापानियों ने कोरिया पर अधिकार कर लिया था और वह अधिकार कुछ काल तक वहाँ बना रहा। इस बीच धीरे-धीरे जापान पर कोरिया की नई संस्कृति का प्रभाव पड़ा जो अनेक रूप से हिन्दुस्तानी थी। जापानियों ने कोरिया को जीता तो था पर संस्कृति और सभ्यता के मैदान में वे कोरिया वालों से हार गये। चीनी और कोरियाई भाषा के ज़रिये हिन्दुस्तानी ग्रंथ जापानी बोली में भी लिख लिये गये और उनका प्रचार जापान में शुरू हुआ। बुद्ध के शान्ति और प्रेम के सन्देश जापानियों ने भी सुने। आज भी वहाँ हज़ारों लकड़ी, पत्थर और धातु की बनी बुद्ध की मूर्तियाँ हैं, काग़ज़ पर सुन्दर लिखी हजारों बौद्ध धर्म की पोथियाँ हैं; दीवार, काग़ज़, बाँस, धातु और रेशम पर बने चित्र हैं। कला के क्षेत्र में, कला की बारीकी में जापानियों का कोई मुकाबिला नहीं कर सकता। उन्होंने अपनी देशी कला की भाँति बौद्ध कला को भी चोटी पर बिठा दिया।

७

तिब्बत, मंगोलिया और नैपाल भी बौद्ध धर्म के भक्त हुए। तिब्बत का पहले अपना विश्वास था, अपना धर्म था, पर अधिकतर आज का तिब्बत अपने धर्म और संस्कृति के लिये भारत का ऋणी है। सातवीं सदी में वहाँ भारतीय लिखावट का भी प्रचार हुआ और वहाँ की जनता उसी हिन्दुस्तानी लिखावट का इस्तेमाल करती है। तिब्बतियों की भाषा चीनी से मिलती-जुलती है। पर उनकी लिखावट देवनागरी का ही पुराना रूप है।

आरम्भ में जब बौद्ध धर्म भारत से तिब्बत पहुँचा तब यह सहज ही था कि नये और पुराने धर्म घुल-मिल जायें। वे दोनों घुल-मिल गये भी, पर प्रधानता वहाँ बौद्ध धर्म को ही मिली। हिमालय की ऊँची चोटियों पर बर्फ़ से ढके अनेक विहार बने, जहाँ भिक्षु बौद्ध पोथियों का पाठ करने लगे, महात्मा शान्ति के उपदेश करने लगे। अनेक बौद्ध महात्मा तिब्बत जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने तिब्बती में ग्रंथों के अनुवाद किये। जब मुसलमानों के अत्याचारों से नालन्दा और बिहार के दूसरे विश्वविद्यालयों से पंडितों को भागना पड़ा तब उन्होंने तिब्बत में ही शरण ली। चीन से अनेक

ग्रंथ तिब्बत पहुँचे और उस अन्धकार के देश में जहां यूरोप के राज्यों की हड़प नीति न चल सकी, विहारों में हज़ारों की तादाद में ऐसे ग्रंथों की रक्षा हुई; जो चीन से आये थे और जो भारत में भी नष्ट हो चुके थे। इस प्रकार की क़रीब दस हज़ार पोथियाँ इस देश के महान् खोजी राहुल सांकृत्यायन तिब्बत जाकर खच्चरों पर लादकर इस देश में ले आये। उस काल के अनेक महात्माओं के चित्र रेशमी झण्डों पर बड़ी चातुरी से कढ़े हुए तिब्बत में मिलते हैं। तांबे और कांसे की ढली हुई हज़ारों बौद्ध मूर्तियां तिब्बत में बनीं।

तिब्बत का पिछला इतिहास भारतीय संस्कृति का इतिहास है। उसकी कला, उसकी लिखावट, उसका धर्म भारत के दिये हुए हैं। पर भारत भी अपनी बहुमूल्य पोथियों के लिये तिब्बत का ऋणी है।

मंगोलिया में भी भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म के फैलते देर न लगी। तिब्बत, चीन और भारत से उसका सम्बन्ध जो बना रहा तो उसमें बौद्ध धर्म काफी फला-फूला। मंगोलिया के ही चंगेज और कुबलेख़ाँ थे। और कुबलेख़ाँ का साम्राज्य तो पूरब में पेगू और अनाम से लेकर एक बार पच्छिम में डेन्यूब की घाटी यूरोप तक पहुँच गया था। कुबलेख़ाँ चीन का भी राजा था, मंगोलिया का भी, और बौद्ध धर्म का बड़ा मानने वाला था।

नैपाल भारत के उत्तर में किसी काल केवल १५ मील लम्बा था, जो आज दूर तक फैला हुआ है। उसपर भी एक ज़माने में अशोक का राज्य था। और तभी से किसी न किसी अंश में बौद्ध धर्म का प्रवेश उस देश में हुआ। एक वार, विशेषकर जब तिब्बत और चीन से उसका सम्बन्ध बढ़ा तब बौद्ध धर्म फैला। नैपाल का तिब्बत से सदा से घना सम्बन्ध रहा है। दोनों की संस्कृति एक दूसरे से प्रभावित हुई है। भारतीय धर्मों का नैपाल पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उस देश की संस्कृति सभी प्रकार से भारतीय हो गई। आज उसकी भाषा भारतीय भाषाओं के बहुत निकट है, उसकी लिखावट भारतीय है, उसके देवी-देवता भारतीय हैं, उसके धर्म-विश्वास भारतीय हैं, उसका समाज भारतीय है, उसका पहनावा भारतीय है। बौद्ध धर्म किसी काल वहाँ भी बड़ा व्यापक था, पर अब धीरे-धीरे हिन्दू देवताओं ने उसका स्थान ले लिया है। शाक्त और शैव धर्म वहाँ प्रबल हैं। शक्ति की अनेक प्रकार से उपासना होती है और पशुपति शिव का तो उसकी राजधानी काठमाण्डू में बड़े महत्व का मन्दिर है, जहाँ दर्शन के लिये हर साल हज़ारों भारतीय जाते हैं।

८

भारतीय संस्कृति के विस्तार का एक खण्ड पूरब में है। बर्मा, स्याम, अनाम, कम्बोडिया आदि में। वहां के रहने वालों की भाषा तो चीनी से मिलती-जुलती है, पर संस्कृति और सभ्यता के दूसरे रूप सभी भारत के हैं—लिखावट, धर्म, पूजन, विश्वास सभी।

बर्मा का सम्बन्ध भी भारत से बहुत प्राचीन है। अशोक ने अपने धर्म-दूत सुवर्णभूमि भी भेजे थे। सुवर्णभूमि बर्मा का पुराना नाम है। उस पूरबी देश में भी बौद्ध धर्म का भले प्रकार प्रचार हुआ और अनेक स्तूप बने। स्तूप बुद्ध भगवान की प्रसिद्ध घटनाओं की याद दिलाते हैं। स्तूप या बौद्ध मंदिर वहाँ पगोडा कहलाये। इस प्रकार के पगोडों की संख्या वहाँ बहुत है। बर्मा का दूसरा नाम ब्रह्मा भी है। वहाँ से भी अनेक बौद्ध ग्रंथ मिले हैं जिनकी भाषा पाली है, और लिखावट बर्मी। पर यह बर्मी लिखावट भी असल में भारतीय ही है। दक्खिन भारत से उसका प्रचार बर्मा में हुआ था। और आज भी वहाँ सैकड़ों विहार हैं जिनमें बौद्ध भिक्षु निवास करते हैं।

स्याम बर्मा से लगा हुआ दक्खिन की ओर है और

उसकी भाषा पर संस्कृत का गहरा प्रभाव पड़ा है। स्यामी शब्दों में अनेकानेक संस्कृत के शब्द हैं। उस देश में बौद्ध और शैव दोनों धर्मों का अच्छा प्रचार हुआ। पहले स्याम में चीनियों की बस्तियाँ बसीं फिर वहाँ दक्खिन भारत से लोग आकर बस गये। ये लोग विष्णु को पूजते थे और समुद्र की राह वहाँ जा पहुँचे थे। भारत और स्याम का पहला सम्बन्ध शायद आज से १८०० बरस पहले हुआ था, जब वहाँ अयोध्या आदि नाम के नगर बसाये गये। पहले वहाँ कम्बुज वालों का राज था, बाद में स्याम स्वतंत्र हो गया। स्याम के राजा हिन्दू थे। भारतीय संस्कृति वहाँ विशेष रूप से फैली। लोगों के नाम अधिकतर हिन्दुओं-से हैं। हिन्दू देवता स्यामी धर्म में प्रधान हैं और हिन्दू संस्कार आज भी वहाँ प्रचलित है। हिन्दू त्योहार, हिन्दू विश्वास, हिन्दू तौर-तरीके आज भी वहाँ बरते जाते हैं। वहाँ की कला और साहित्य पर भारतीयता की गहरी छाप है। उसके शासन में भी अधिकतर भारत के हो प्राचीन पदों का व्यवहार होता है।

कम्बुज का नाम आज कम्बोडिया है जो फ्रान्सिसी सत्ता के अधीन इधर अनेक सालों से है।

कम्बुज, स्याम, मलाया, चम्पा आदि सबको एक साथ मिलाकर चीनी लोग फूनान कहते थे। कहते हैं कि दक्खिन भारत से कौन्डिन्य नामक एक ब्राह्मण ने जाकर वहाँ

भारतीय राजवंश की नींव डाली। तभी से वहाँ के राजाओं के चन्द्रवर्मा, जयवर्मा, रुद्रवर्मा आदि नाम पड़े और नटराज शिव की पूजा शुरू हुई। कम्बुज में अंकोरवाट और बेयन के मंदिर सर्वथा हिन्दुओं-से हैं और उनपर भारत की कला का पूरा-पूरा प्रभाव है। कम्बुज में संस्कृत में लिखे अनेक लेख मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि वहाँ के लोगों का भी विश्वास था कि वे मनु की सन्तान हैं। वह देश भी करीब आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले भारतीयों के शासन में आया। उसके राजा बहुत काल तक हिन्दू रहे और धीरे-धीरे उन्होंने पेगू से चम्पा आदि देशों तक पर अधिकार कर लिया। स्वयं कम्बुज के नगरों के नाम भारतीय थे और वहाँ के राजाओं ने अपने सारे लेख संस्कृत में लिखवाये। वहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार कुछ कम न था, शिव और विष्णु की पूजा लोग बड़े विश्वास और श्रद्धा से करते थे।

वास्तव में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी, रुद्राणी सभी की मूरतें वहाँ बनी थीं और पूजा होती थी। अंकोरवाट और अंकोरथोम के मन्दिरों के खण्डहर उनकी महानता का परिचय आज भी देते हैं। अंकोरथोम में प्रसिद्ध शिव मन्दिर है जिसके तीन खण्ड हैं और हर खण्ड के ऊपर एक ऊँची मीनार है। मूर्तियों की परम्परा अंकोरथोम और अंकोरवाट दोनों में दूर तक चली गई है।

भारतवर्ष के बाहर जावा को छोड़कर सबसे बड़ा हिन्दू-देवताओं का केन्द्र कम्बुज ही था। कम्बुज के मन्दिरों का रूप पिरामिडों की तरह का है, तिकोनी चोटी वाला। अंकोरवाट में तीन चित्रशालाएँ भी हैं; सैकड़ों गज दौड़ने वाली लम्बी-चौड़ी चित्रशालाएँ, जिनमें रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण की कथाएँ चित्रित हैं। कम्बुज हिन्दू-प्रधान देश है। उस देश के समाज, साहित्य, कला, धर्म, विश्वास, पूजन, संस्कार, शासन आदि में भारतीय संस्कृति बोलती है।

चम्पा का राजा भी हिन्दू ही था और लम्बे काल तक हिन्दू ही बना रहा। वहाँ भी हिन्दू राजाओं ने आज से कोई १७०० साल पहले अपने राजवंश की नींव डाली। ईसा से ९०० बरस बाद तक उस देश में हिन्दू राज्य और संस्कृति बनी रही। कुछ काल बाद अनामियों ने उसपर अधिकार कर लिया।

चम्पा पर अनामियों और मंगोलों का कुछ काल तक शासन रहा, पर उसकी संस्कृति और विश्वास बराबर हिन्दू बने रहे। शिव की पूजा वहाँ श्रद्धा से होती थी और शैव-मत का सर्वत्र प्रचार था। वैष्णव भी उस देश में कुछ कम न थे। उसी प्रकार बौद्धों के विचार भी वहाँ खूब फले-फूले।

९

मलय, सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि टापुओं का पूर्वी समुद्र में बर्मा की निचली भूमि से मिला-जुला एक अलग दल है, जहाँ हिन्दू संस्कृति की बेलें लगीं और प्रायः डेढ़ हज़ार बरस तक वह संस्कृति वहाँ जीवित रही। पिछले दिनों में इस्लाम के उदय के साथ वहाँ हिन्दू राज्य का अन्त हुआ, पर वहाँ की संस्कृति आज भी अनेक रूप से हिन्दू या भारतीय है। वहाँ के मुसलमानों तक के नाम मूल रूप से हिन्दू ही हैं।

बर्मा से लगे समुद्र में घुस जाने वाली पतली भूमि को मलय कहते हैं। बहुत प्राचीन काल में, आज से करीब दो हज़ार बरस पहले ही, वहाँ भी दक्खिन से हिन्दू लोग जा बसे थे। फ़ूनान और चम्पा जाने वालों के मार्ग में ही मलय पड़ता था, इसलिये हिन्दुओं की आबादी वहाँ पहले बसी। मलय पर बीच-बीच में चीन का भी अधिकार होता रहा, पर संस्कृति वहाँ की भारतीय बनी रही। हिन्दू और बौद्ध देवता वहाँ लम्बे अरसे तक पूजे जाते रहे।

सुमात्रा का लम्बा द्वीप मलय से लगा ही हुआ है। उसका पुराना नाम श्रीविजय है। सातवीं सदी ईस्वी तक सुमात्रा

के हिन्दू राजा बड़े शक्तिमान् हो गये थे और उनके सामने आसपास के राजा सिर झुकाने लगे थे। मलय, सुमात्रा और जावा के राजाओं ने भी सुमात्रा के शैलेन्द्रों का लोहा माना था।

सुमात्रा से लगा हुआ एक दूसरा बड़ा द्वीप जावा नाम का है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप है। वाल्मीकि रामायण में सीता के खोजने के सम्बन्ध में इस द्वीप का नाम आया है। लोगों का विश्वास है कि ईसा से ७४ साल बाद ही काठियावाड़ का राजा अपने मंत्री को लेकर जावा पहुँचा था। कुछ ही काल बाद वहाँ हिन्दू राज्य स्थापित हुआ, हिन्दू संस्कृति फैली, स्थानों के हिन्दू नाम पड़े, संस्कृत भाषा में लेख लिखे जाने लगे। कुछ काल बाद जावा में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और उस द्वीप में सर्वत्र उसका बोल-बाला हुआ।

जावा से डेढ़ मील पूरब में बाली नाम का एक छोटा-सा टापू है। सुमात्रा, जावा और स्याम बहुत कुछ हिन्दू होते हुए भी अधिकतर बदल गये हैं। पर बाली की संस्कृति ज्यों की त्यों आज भी बनी हुई है। वहाँ मुसलमानों का प्रवेश विशेष नहीं हो सका, इससे वहाँ के मन्दिर और मूरतें आज भी अखंडित खड़ी हैं। ईसा की सातवीं सदी तक बाली में हिन्दू सभ्यता फैल चुकी थी और चीनी सम्राटों से उसका सद्भाव हो चुका था।

जावा के उत्तर में बोर्नियो नाम का बहुत बड़ा द्वीप है। वहाँ चौथी सदी के लेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि किस प्रकार वहाँ भारतीय संस्कृति फैल चुकी थी। हिन्दू देवी-देवताओं की वहाँ भी सर्वत्र पूजा हुई और सैकड़ों देवालय वहाँ बने।

जावा के मन्दिरों के सम्बन्ध में न लिखने से उस कला का अपमान होगा जिसे सदियों की मेहनत से लोगों ने वहाँ स्थापित किया था। प्रम्बनम् और बोरोबुदुर के मन्दिरों का यश आज सारे संसार में फैल रहा है। बोरोबुदुर में बौद्ध मन्दिरों और प्रम्बनम् में शैव मन्दिरों की बहुतायत है। दोनों का विस्तार बहुत बड़ा है। उनकी मूरतें अगर लगातार एक के बाद एक रख दी जायें तो मीलों तक उनकी परम्परा बँध जाय। भारतीय पुराणों, रामायण, महाभारत की अनेकानेक कथाएँ वहाँ की दीवारों पर खुदी हुई हैं। ऐसे मन्दिर पिछले दिनों में संसार में और कहीं नहीं बने। प्रसन्नता की बात है कि आज भी हिन्द-एशिया और भारत में नया सद्भाव हो चला है।

१०

भारतीय संस्कृति का विस्तार बहुत बड़ा है। परन्तु लगता है उसके साहित्य और विज्ञान का विस्तार शायद उससे भी बड़ा है। नवीं सदी के शुरू में अरबों ने जब बगदाद में अपनी विद्यापीठ कायम की तब उसके ज़रिये भारत का गणित, उसका ज्योतिष, चिकित्सा विज्ञान और दर्शन भी पश्चिम में पहुँचा, और यूरोप तक फैल गया। दशमलव और अंकों का इस्तेमाल दुनिया ने भारत से ही सीखा और उसके प्रचारक अरब थे।

उससे काफ़ी पहले हिन्दुस्तान की कथाओं का प्रभाव दुनिया पर फैल चुका था। हिन्दुस्तान कहानी कहने में अपना जोड़ नहीं रखता। जातक की कहानियाँ, पंचतंत्र की कहानियाँ, कथासरित्-सागर की कहानियाँ अनेक प्रकार से अनेक रूप में विदेशों में पहुँचीं और वहाँ के सुनने वाले को अपने अद्‌भुत चरित से उन्होंने चकित कर दिया। पंचतंत्र की कहानियों का अनुवाद कई भाषाओं में करीब डेढ़ हज़ार वर्ष पहले ही हो चुका था और आज वह संसार की सभी महत्व की भाषाओं में मिलती हैं।

भारतीय संस्कृति का साम्राज्य इस प्रकार देश-देश

पर फैला—चीन से रोम तक, मंगोलिया से लंका तक। और जावा, सुमात्रा द्वीपों पर भी इस देश की राजनीति की पौध लगी। पर ऐसा नहीं कि भारत किसी रूप में उन टापुओं पर शासन करता रहा हो। जो लोग वहाँ गये, वहां बस कर वहीं के हो रहे और उनपर भारत के राजाओं का अधिकार किसी प्रकार भी नहीं रहा। वे अपने नये देश में स्वतन्त्र थे और वहाँ का धन वहीं खर्च करते थे। इस प्रकार भारत की राजनीति ने भी बाहर के देशों की राजलक्ष्मी को कभी हाथ नहीं लगाया।

० ० ०